DSSSB TGT & PGT
SCHOLAR BATCH
संस्कृत
DSSSB TGT & PGT
Part-B
SCHOLAR BATCH
संस्कृत
शुकनासोपदेश
Part -5
LIVE
27-06-2024 05:00 PM

गुरूपदेशश्च नाम पुरुषाणामखिलमलप्रक्षालनक्षमम् अजलं' स्नानम्, अनुपजातपलितादिवैरूप्यमजरं वृद्धत्वम्, अनारो- पितमेदो दोषं गुरूकरणम्, असुवर्णविरचनम् अग्राम्यंकर्णा- भरणम्, अतीत ज्योतिरालोकः, नोद्वेगकरः प्रजागरः ।

अर्थ- वस्तुतः गुरु का उपदेश तो मनुष्यों के समस्त मलों (विकारों) को धो डालने में समर्थ जल-रहित स्नान है, श्वेतकेशता आदि कुरूपता से रहित और बुढ़ापे से रहित वृद्धत्व है, चर्बी में (वृद्धि आदि) दोषों के आरोपण से मुक्त गुरुता (महत्ता) प्रदान करने का साधन है, बिना सोने के बना हुआ उत्कृष्ट (अग्राम्य) कर्णाभूषण है, (भौतिक) ज्योति से रहित प्रकाश है तथा उद्वेग (बेचैनी) न उत्पन्न करने वाला जागरण है।

**टिप्पणी** - गुरु के उपदेश की महत्ता को ही एक अन्य ढंग से प्रस्तुत करते हुए कहा गया है कि जिस प्रकार जल से स्नान करने से शरीर का मैल पूरी तरह घुल जाता है, उसी प्रकार गुरु का उपदेश भी काम-क्रोध आदि मानसिक विकारों को दूर करने में समर्थ स्नान ही है। अन्तर इतना है कि यह स्नान जल के बिना ही हो जाता है। इस प्रकार यहां गुरु के उपदेश में स्नान का आरोप करके इस स्नान को 'अजल' कह कर आधिक्य सूचित किया गया है, अतः यहां 'अधिकारूढवैशिष्ट्यरूपक' अलंकार है। इसी प्रकार साधारणतः बाल पक

जाने पर, झुर्रियां पड़ने पर तथा अङ्ग शिथिल हो जाने पर व्यक्ति वृद्ध समझा जाता है किंतु गुरु का उपदेश शान्ति एवं सदसद्विवेक देने के कारण ऐसा वृद्धत्व (बड़प्पन) है जिसमें बालों का सफेद होना आदि विकार नहीं आते हैं और न ही शरीर में किसी प्रकार की जीर्णता आती है। श्वेतकेशता आदि विकारों का न होना तथा जरा का न होना इस वृद्धत्व का वैशिष्ट्य है, अतः अलंकार पूर्ववत् 'अधिकारूढ वैशिष्ट्यरूपक' है। शास्त्रों में वृद्ध चार प्रकार के माने गए हैं- वयोवृद्ध, ज्ञान- वृद्ध, धर्मवृद्ध तथा तपोवृद्ध। इनमें वयोवृद्ध (आयु में बूढ़ा) की

अपेक्षा अन्य तीन प्रकार के वृद्ध अधिक पूज्य व प्रतिष्ठित माने गए हैं। कालिदास कहते है- 'न धर्मवृद्धेषु वयः समीक्ष्यते' (कुमार०, ५.१६)। भगवान् मनु के वचन है 'न हायनैर्न पलितैर्न वित्तेन न बन्धुभिः। ऋषयश्चक्रिरे धर्म योऽनूचानः स नो महान् ॥' 'विप्राणां ज्ञानतो ज्यैष्ठ्यम्'। 'न तेन वृद्धो भवति येनास्य पलितं शिरः। यो वै युवाप्यधीयानस्तं देवाः स्थविरं विदुः ॥' (मनु०, २०१५४-१५६)।

चर्वीं के चढ़ने से मनुष्य में गुरुता (स्थूलता) आती है किंतु गुरु का उपदेश मेदोदोष के बिना ही गुरुता (महत्ता) प्रदान करता है। अर्थात् गुरु के उपदेश से दूरदर्शिता प्राप्त कर मनुष्य गौरवान्वित होता है। बिना चर्बी चढ़े ही गुरूपदेश का गुरूकरण होना गुरुता के अन्य साधनों से वैशिष्ट्य है, श्रतः 'अधिकारूढवैशिष्ट्यरूपक' अलंकार है। आयुर्वेद में मेदोदोष को एक- असाध्य रोग बताया गया है। 'व्यायाम न करने से, दिन में सोने और कफ- कारक भोजन करने वाले मनुष्य का अन्नरस स्नेह के कारण प्रायः चीं को बढ़ा ८ देता है। अतः मेद से मार्ग के रुक

जाने के कारण दूसरे धातु पुष्ट नहीं होते, जिससे मनुष्य सभी कर्मों में अशक्त हुआ क्षुद्र श्वास, तृषा, मोह, निद्रा, गले में घुरघुराहट, अवसाद, क्षुधा, स्वेद और दुर्गन्ध से युक्त एवं क्षीणवल और मैथुन में अल्पशक्ति वाला हो जाता है। मेद के बहुत बढ़ जाने पर सहसा वायु आदि शरीरस्थ तत्त्व भयंकर विकारों को उत्पन्न कर शीघ्र ही जीवन को नष्ट कर देते हैं' (द्र० मानि०, ३४.१-३,८)।

स्वर्ण-निर्मित तथा कलात्मक (अग्राम्य) कान के गहने ही कान की शोभा को बढ़ाते हैं किंतु गुरु का उपदेश तो स्वर्ण-निर्मित न होने पर

भी अति सुन्दर कर्ण-भूषण है, क्योंकि कर्णगोचर होने के साथ ही चित्त को सुशोभित करता है। सोने से बने आभूषण में तो कलात्मकता के अभाव में अथवा कस चढ़ जाने से ग्राम्यतादोष आ जाता है किंतु गुरु के वचन अश्लीलतारूप ग्राम्यदोष से सर्वथा मुक्त होते हैं। विना सोने के बनना और ग्राम्यता से बिल्कुल अछूता रहना गुरूपदेशरूपी कर्णाभरण का साधारण कर्णाभरण से वैशिष्ट्य है, अतः यहां भी 'अधिकारूढवैशिष्ट्यरूपक' अलंकार है।

गुरु का उपदेश ज्योति से अतीत अर्थात् नेत्र-ग्राह्य नहीं है; उसे बुद्धि ही ग्रहण कर सकती है। तो भी सन्मार्ग का आलोकन (दर्शन) कराने वाला है। अथवा 'यह ऐसा प्रकाश है जिसकी चमक सूर्य, चन्द्रादि ज्योतियों से बढ़ कर है' (द्र० काद० सां० अ०, पृ० १२२)। भाव यह है कि सूर्य का प्रकाश दिन में ही रहता है तथा चन्द्र आदि नक्षत्रों का रात्रि को ही, किंतु गुरु के उपदेश से प्राप्त ज्ञान- प्रकाश तो सदा प्रदीप्त रहता है। तथा कुछ विद्वानों के अनुसार सूर्य आदि पदार्थों से उत्पन्न प्रकाशों में

(दाहक) तेज विद्यमान रहता है किंतु गुरु का उपदेश ऐसा ज्ञान का प्रकाश है जिसमें चौंध नहीं होती। 'अधिकारूढ- वैशिष्ट्यरूपक'।

रात्रि-जागरण सदा उद्विग्नता या बेचैनी पैदा करता है किंतु गुरु का उपदेश ऐसी जागृति है जिससे शरीर को बेचैनी या थकावट नहीं होती। यह जागरण जीवन के प्रत्येक पग में सावधानी प्रदान कर के उद्वेग को समाप्त करने वाला होता है। अन्य जागरण तो कष्टकर होता है लेकिन गुरूपदेशरूपी जागरण नहीं - यह इसका वैशिष्ट्य है, अतः अलंकार 'अधिकारूढवैशिष्ट्य- रूपक' ही है।

विशेषेणतु' राज्ञाम् । विरला हि तेषामुपदेष्टारः । प्रतिशब्दक इव राजवचनमनुगच्छति जनो भयात् ।

**अर्थ-** (ऐसा गुरु का उपदेश) राजाओं के लिए विशेष रूप से (उपयोगी) है क्योंकि उनको उपदेश देने वाले बिच्ले ही होते हैं। व्यक्ति भय के कारण राजा के वचनों (आदेशों) का प्रतिध्वनि की भांति अनुसरण करता है।

**टिप्पणी-** उक्त उपदेश द्वारा कराए गए अजल स्नान आदि गुण राजाओं का विशेष रूप से उपकार करते हैं। स्वामी या शासक होने से उनका इनसे अधिक कल्याण संभव होता है और इन गुणों के न होने पर वही शास- कत्व उनका अनर्थ भी अधिक कर सकता है। इस वाक्य की यह भी ध्वनि है

- हे चन्द्रापीड ! यह उपदेश केवल तुम्हें ही दिया जा रहा हो, ऐसी बात नहीं अपितु सभी राजाओं को यह उपदेश विशेष रूप से दिया जाना चाहिए (द्र० टीका) और यह भी मत समझना कि प्रभुत्व-सम्पन्न लोगों को हित-श्रहित की शिक्षा देने वाले बहुत होते होंगे। इन राजाओं को उपदेश देने का साहस रखने वाले विरले ही होते हैं । प्रतिवाद की आवश्यकता होने पर भी लोग डर से राजा के कहे पीछे उसी तरह चलते हैं जैसे कि प्रतिध्वनि सदा मूलध्वनि का ही अनुगमन करती है। यहां

'जनः' उपमेय, 'प्रतिशब्दकः' उपमान, 'इव' औपम्यवाचक तथा 'अनुगच्छति' साधारणधर्म है, अतः यहां 'पूर्णोपमा' अलं- कार है।

उद्दामदर्प 'श्वयथुस्थगितश्रवणविवराश्चोपदिश्यमानमपि ते न शृण्वन्ति, शृण्वन्तोऽपि च गजनिमीलितेनावधीरयन्त: खेदयन्ति हितोपदेशदायिनो गुरून् ।

**अर्थ** – उत्कट अहङ्कार रूपी शोथ (सूजन) से अवरुद्ध कर्णछिद्रों वाले वे (राजा लोग) उपदेश की बातों को भी नहीं सुनते हैं और सुनते हुए भी गज- निमीलिका (हाथी की तरह बन्द आंखों) से हितकर उपदेश देने वाले गुरुओं का तिरस्कार करते हुए (उन्हें) खिन्न करते हैं।

**टिप्पणी -** अगर कुछ लोग डर को छोड़कर राजाओं को हितकारक उपदेश देने का साहस भी करें तो राजाओं के कान उत्कट अहंकार से ऐसे बन्द हो जाते हैं जैसे कान में सूजन हो जाने से उसके छेद बन्द हो जाते हैं। इस प्रकार उपदेश-वचन उनके कर्णकुहरों में प्रविष्ट ही नहीं हो पाते, और कहीं वे प्रवेश पा भी जाएं तो राजा लोग ऐसे आंखें मींच कर अनसुनी कर देते हैं जैसे मतवाला हाथी आंखें मींचकर महावत के निर्देशों की उपेक्षा कर देता है। इस प्रकार वे अपने हितोपदेशक गुरुओं को सन्ताप पहुंचाते हैं। 'शृण्वन्तोऽपि' की यह व्यंजना है कि वे

गुरुवचनों को केवल कर्णगोचर करते हैं बुद्धिगोचर व मनोगोचर नहीं । उत्कटदर्प में श्वयथु (सूजन) का आरोप किया गया है, अतः 'रूपक' अलंकार है । 'गजनिमीलितेन' में 'उपमेयवाचक लुप्तोपमा' अलंकार है। 'श्वयथु' आयुर्वेद का पारिभाषिक शब्द है । शरीरस्थ दुष्ट वायु, विकृत रक्त, पित्त और कफ को बाहर की सिराओं में ले जाकर पुनः उनसे अवरुद्ध गति होकर, त्वचा और मांस में स्थान कर लेता है। इस प्रकार रक्त सहित तीनों दोषों से होने वाले इस उठाव और कठिनता को श्वयथु या शोथ कहते हैं। हेतुविशेष व रूपभेद से यह नौ प्रकार का होता

है, यथा- वातज पैत्तिक, श्लैष्मिक, विषज आदि । छाती, कान आदि शरीर के ऊपर के भागों में होने वाला श्वयथु आमाशय के दोषों से होता है (द्र० मानि०, ३६.१-२०) । कान में यदि श्वयथु हो जाय तो स्पष्ट है कि कर्णविवर के बंद हो जाने से सुनने में भी कठिनता अनुभव होगी ।

अहंकारदाहज्वरमूर्च्छान्धकारिता विह्वला हि राजप्रकृतिः । अलीकाभिमानोन्माद' कारीणि धनानि, राज्यविष विकार- तन्द्रा प्रदा राजलक्ष्मीः ।

**अर्थ -** अहंकाररूपी दाहक ज्वर से उत्पन्न मूच्छा (अचेतना) से अन्धकारयुक्त (अज्ञानयुक्त) राज-स्वभाव निश्चय ही क्षुब्ध रहता है। धन, झूठे अभिमान और उन्मत्तता को उत्पन्न करने वाले (होते) हैं; राज्यलक्ष्मी राज्य- रूपी विष के विकार से उत्पन्न तन्द्रा (मूच्छा) को देने वाली (होती) है।

**टिप्पणी-** राजा लोग सुनते हुए भी नहीं सुनते बल्कि गजनिमीलिका से हितैषी गुरुओं का तिरस्कार करते हैं। आखिर ऐसा होता क्यों है ? इसका समाधान करते हैं कि जिस प्रकार दाहज्वर की मूर्च्छा से संज्ञाहीन हुआ मनुष्य छटपटाता है, उसी तरह अहंकार रूपी दाहज्वर से उत्पन्न मोह से, अच्छे-बुरे के विवेक को खो कर, राजाओं का स्वभाव अत्यन्त अस्थिर हो जाता है। दाहज्वर की भांति अहंकार भी मनुष्य के हृदय में तीव्र जलन पैदा करता है। दाहज्वर का दाह मनुष्य में मूर्च्छा उत्पन्न कर उसे संज्ञाहीन कर देता है तो अहंकार की गर्मी भी

अज्ञान के मोह को उत्पन्न कर मनुष्य को सदसद्विवेक से हीन कर देती है। इस अतिशय साम्य के कारण अहंकार में दाहज्वर का आरोप उचित ही है। इस प्रकार यहां 'रूपक' अलंकार है। स्वभाव की इस अस्थिरता में राजाओं का क्या दोष ? धन का तो स्वभाव ही ऐसा है कि मिथ्याहंकार के द्वारा मनुष्य में उन्माद उत्पन्न करता है। अत्यन्त नश्वर धन की प्राप्ति से फूल कर कुप्पा हो जाना भला क्या झूठा अभिमान नहीं ! उन्माद मानसिक रोग होने से दाहज्वर से भी एक दर्जा आगे है। सुश्रुत इस रोग का वर्णन करता है- 'मद- यन्त्युद्धता दोषा

यस्मादुन्मार्गमाश्रिताः। मानसोऽयमतो व्याधिरुन्माद इति कीर्तितः (६.६२)। चरक० में बताया गया है कि बुद्धि का विभ्रम होना, मन का चंचल होना, नेत्रों का व्याकुल होना, धैर्य का नाश होना, वचनों का असम्बद्ध होना और हृदय का शून्य होना-ये उन्माद के सामान्य लक्षण हैं (६.६)। न केवल धन ही अपितु यह राजलक्ष्मी भी राज्य के मद से उसी प्रकार प्रमाद व तन्द्रा उत्पन्न करती है जिस प्रकार विष मनुष्य को तन्द्रिल व निश्चेष्ट कर देता है। तो इस राजलक्ष्मी को 'विष' न कहें तो

क्या कहें ? इस प्रकार यहां भी राज- लक्ष्मी में विष का आरोप करने से 'रूपक' अलंकार है।

आलोकयतु तावत कल्याणाभिनिवेशी लक्ष्मीमेव प्रथमम् । इयं हि सुभट' खड्गमण्डलोत्पलवनविभ्रम भ्रमरी लक्ष्मीः क्षीरसागरात् - पारिजातपल्लवेभ्यो रागम्, इन्दुशक- लादेकान्तवक्रताम्, उच्चैःश्रवसश्चञ्चलताम्, कालकूटान्मोह- नशक्तिम्, मदिराया मदम्, कौस्तुभमणेरति नैष्ठुर्यम् इत्ये- तानि सहवासपरिचयवशाद्विरहविनोदचिह्नानि गृहीत्वै- वोङ्गता ।

अर्थ - मंगल के अभिलाषी (आप) पहले लक्ष्मी को ही देखें। श्रेष्ठ योद्धाओं की तलवारों-रूपी कमल-वन में भ्रमण करने वाली भ्रमरी-रूपा यह लक्ष्मी एक-साथ रहने से परिचय बढ़ जाने के कारण वियोग के समय में मनो- विनोद के चिह्न के रूप में पारिजात के पत्तों से राग (आसक्ति), चन्द्रकला से निपट वक्रता (कुटिलता), उच्चैःश्रवा से अस्थिरता, कालकूट या हलाहल से सम्मोहन-शक्ति, मदिरा से मादकता और कौस्तुभमणि से क्रूरता को लेकर ही क्षीरसागर से मानो बाहर निकली है।

**टिप्पणी -** शुकनास कहता है कि यह जो अभी मैंने राजाओं, धनों एवं बाह राजलक्ष्मी के स्वभाव का वर्णन किया है तथा राजलक्ष्मी को तो साक्षात् विष ही कह दिया है, यह कोई मनगढ़न्त बात नहीं है। चन्द्रापीड ! कल्याणाभिलाषी तुम स्वयं इन तथ्यों की परीक्षा कर सकते हो। सबसे पहले इस लक्ष्मी के ही वास्तविक रूप का विचार करके देखो। निश्चय ही यह लक्ष्मी भंवरी ही है जो हमेशा कुशल योद्धाओं के तलवार-समूह के कमल-वन में भ्रमणशील रहती है। बहुत पहले जब क्षीरसमुद्र से इसका जन्म हुआ था तो वहां के साथियों के विरह में

अपना जी बहलाने के लिए उनकी कुछ-न-कुछ निशानी साथ लेकर बाहर आई। पारिजात के पत्तों में राग (लाली) रहता है, सो उनसे यह राग (आसक्ति की लाली) ले आई है। पारिजात के पत्तों का राग अस्थिर रहता है तो इस लक्ष्मी का अनुराग भी किसी के प्रति दृढ़ नहीं है। अतः कहा भी है- 'मूर्खान्द्वेष्टि न गच्छति प्रणयतामत्यन्तविद्वत्स्वपि' । प्रिय- सखी चन्द्रकला के सहवास की स्मृति को अमिट बनाने के लिए उसकी 'वक्रता' को ही इसने ले लिया, इसलिए इसमें कुटिलता दिखाई देती है। इसी प्रकार उच्चैःश्रवा से उसकी प्रिय वस्तु 'चंचलता'

लेकर आई है अतः कहीं भी अधिक देर टिक कर नहीं रह सकती। कालकूट नामक विष से उसके प्रधान गुण मोहन-शक्ति (मूर्च्छा उत्पन्न करने की शक्ति) को इसने अपना लिया है।

अतः सभी को मोहित कर अपने पंजे में किये रहती है। मदिरा से इसने 'मद' को ले लिया है इसलिए सदा उद्धत बनी रहती है। अतः उक्ति है- 'कोऽर्थान्प्राप्य न गर्वितः ।' कौस्तुभमणि की अति 'कठोरता' को इसने धारण कर लिया है, अतः बहुत निर्दय है। २० प्रकार उन-उन पदार्थों के उन-उन गुणों को लेकर ही इस लक्ष्मी ने इस लोक में पदार्पण किया

है, इसलिए आसक्ति आदि (दुर्) गुण इसके स्वभाव में पूर्णत: घुलमिल गए हैं। किसी अन्य कवि ने भी कहा है-

'चाञ्चल्युमच्चै:श्रवसस्तुरङ्गात्कौटिल्यमिन्दोर्विषतो विमोह: ।
एतच्छियाशिक्षि सहोदरेभ्यो न वेद्मि कस्माद् गुणवद्विरोध: ।।"

लक्ष्मी में भ्रमरी का आरोप खड्गमण्डल में उत्पलवन के आरोप का कारण है अत: 'परंपरितरूपक' अलंकार हुआ। पुन: रक्तिमा और अनुराग (राग) कुटिलता और प्रतिकूलता (वक्रताम्), चंचलता और चित्त की अस्थिरता (चञ्चलताम्), मूर्च्छा उत्पन्न करने की शक्ति और

दूसरों को वश में करने की शक्ति (मोहनशक्तिम्), उन्माद और औद्धत्य (मदम्), कठोरता और निर्दयता (नैष्ठुर्यम्) - इनमें परस्पर भेद होने पर भी श्लेष द्वारा अभेद के अध्यवसाय होने से 'अतिशयोक्तिं' अलंकार हुआ। 'गृहीत्वेव' में 'क्रियोत्प्रेक्षा' अलंकार है। उक्त तीनों अलंकार प्रस्तुत वाक्य में परस्पर अङ्गाङ्गी-भाव से प्रयुक्त हुए हैं, अतः तीनों का 'सङ्कर' समझना चाहिए।

प्रस्तुत अनुच्छेद में बाण ने समुद्र-मन्थन की पौराणिक कथा को लक्ष्य कर लक्ष्मी के दुर्गुणों के सम्बन्ध में सुन्दर उत्प्रेक्षाएं की है। समुद्र-मन्थन

की कथा अनेक पुराणों एवं रामायण, महाभारत में भी आयी है। दुर्वासा के शाप से देवताओं पर भारी आपत्ति आई और वे दैत्यों से परास्त हो गए। भगवान् विष्णु ने उन्हें सलाह दो कि दैत्यों से संधि कर उनकी सहायता से क्षीरसागर का मन्थन करो तथा मंथन से निकले अमृत को पीकर अमर हो जाओ। देवराज इन्द्र ने दैत्यरान वलि से संधि की तथा उसे लालच दिया कि दैत्य भी अमृत के बटवारे में समभाग प्राप्त करेंगे। समुद्र-मंथन प्रारम्भ हुआ । मन्दरपर्वत को मयानी तथा सर्पराज बासुकि को मथने की रस्सी बनाया गया। मन्दर नीचे घसने

लगा तो विष्णु ने कच्छप रूप में अवतार धारण कर उसको धसने से बचाया। समुद्र-मंथन होते-होते सत्रसे, पहले कालकूट या हालाहल विष समुद्र से निकला। समुद्र से निकलने वाले चौदह रत्नों में यह पहला रत्न था। उससे समस्त जगत् नत्लने लगा। देवगण त्राहि-त्राहि करते हुए महादेव शंकर की शरण में पहुंचे । शंकर का दिल पसीज श्राया। उन्होंने उस कालकूट व हालाहल विष को पी डाला और 'नीलकंठ' हो गए। समुद्र-मंथन पुनः प्रारंभ हुआ। उसमें से क्रमशः श्रमपेन, उच्चैःश्रवा नामक श्रश्व, ऐरावत नामक गजराज, कौस्तुभमणि,

कल्प- हेच, अप्सराएं, पाञ्चजन्य नामक शंख, शाङ्ग नामक धनुष, चन्द्रमा, लक्ष्मी, यादणी व मदिरा, देवताओं के चिकित्सक धन्वन्तरि तथा श्रमृत- ये सभी रत्न निकले। इनमें से चंद्रमा को शंकर ने अपना शिरोभूषण बना लिया। पाञ्चजन्य, शार्ङ्ग और लक्ष्मी पर विष्णु ने अधिकार जमाया। दैत्य वारुणी में रम गए। कामधेनु, उच्चैःश्रवा, ऐरावत एवं कल्पवृक्ष देवताओं के हाथ लगे। किंतु जब अमृत का घड़ा लेकर वैद्यराज धन्वन्तरि प्रकट हुए तो दैत्य सब मर्यादा-बंधन तोड़कर अमृत पर टूट पड़े। धन्वन्तरि से उन्होंने अमृत-घट छीन लिया। 'मैं पहले

मैं पहले' की रट के साथ उनमें आपस में ही गुत्थमगुत्था होने लगी। विष्णु ने देवताओं से अमृत छिनते देखा तो मोहिनीरूप धारण कर दैत्यों को अपने रूपजाल में फांसकर अमृत देवताओं में बांट दिया (द्र० पद्म०, १.४, ४.१० स्कन्द०, १.६-१२; रामा०, १.४५; महाभा०, १.१५-१७) । पद्म० में कल्पवृक्ष के स्थान पर पारिजात के ही उत्पन्न होने का वर्णन है- 'ऐरावत- स्ततो जज्ञे तथैवोच्चैःश्रवा हयः । धन्वन्तरिः पारिजातः सुरभीश्चाप्सरोगणः ।। (४.१०.१) । मन्थने पारिजातोऽभूद्देवश्रीनन्दनो द्रुमः (१.४.५०) ।' अतः कल्प- वृक्ष व

पारिजात को पांचों देवतरुओं का उपलक्षण भी माना जा सकता है। इस पुराण में मदिय या वारुणी की मादकता को बहुत काव्यात्मक शैली में प्रस्तुत किया गया है- 'बभूव वारुणी देवी मदाघूर्णितलोचना । कृतावर्त्ता ततस्तस्मा- त्यस्खलन्ती पदे पदे ।।। एकवस्त्रा मुक्तकेशी रक्तांतस्तब्धलोचना । अहं बलप्रदा देवी मां वो गृह्णन्तु दानवाः ।। अशुचि वारुणीं मत्वा त्यक्तवन्तस्तदासुराः जगृहु- स्तांस्तदा दैत्या ग्रहणान्ते सुराभवत् (१.४.४७-४६)

न ह्येवंविधमपर'मपरिचितमिह जगति किञ्चिदस्ति,

यथेय-म अनार्य

मनार्या । लब्धापि' खलु दुःखेनै परिपाल्यते । दृढगुण पाश- सन्दान निष्पन्दी कृतापि नश्यति ।

टीका- अर्थ लक्ष्म्यास्तत्सहितस्यापि राशो निन्दां कुर्वन्नाह - न हीति । इह जगत्येवंविधमेतादृशमपरिचितं निर्दाचिण्यं किञ्चिन्नास्ति यथेयमनार्याश्रेष्ठा वर्तते । एतदेव प्रपञ्चयन्नाह - लब्धेति । लब्धापि महता कष्टेन प्राप्तापि दुःखेन खलु परिपाल्यते परिपालनविषयीक्रियते । दृढं गाढं गुणाः शौर्यादयस्त- ल्लक्षणं

यत्सन्दानं बन्धनं तेन निस्पन्दीकृतापि निश्चलीकृतापि नश्यति प्रपला- यते ।

अर्थ - निश्चय ही इस संसार में कोई दूसरी वस्तु ऐसी अपरिचित (परिचय के सम्बन्ध की उपेक्षा करने वाली) नहीं है जैसी कि यह दृष्टा है। क्योंकि प्राप्त हो जाने पर भी दुःखपूर्वक पालन की जाती है (संभाली जाती है) । (राजोचित) गुणों के दृढ़ बन्धन से निश्चल की हुई भी लुप्त हो जाती है ।

**टिप्पणी** – परिचय से स्वभावत: सौहार्द्र उत्पन्न होता है किंतु यह श्राचारभ्रष्टा (अनार्या) लक्ष्मी उससे सर्वथा निरपेक्ष है। अत: घनिष्ठतम परि चय के अनन्तर भी अपरिचित ही बनी रहती है। यथाकथञ्चित् मिल जाये तो भी इसका पालन करना अर्थात् इसे स्थिर रखना कठिन है। ठीक ही कहा है- 'श्रीर्लब्धप्रसरेव वेशवनिता दु:खोपचर्या भृशम्' (मुद्रा०, ३.५) । गुणरूपी दृढ़ पाशों में मज़बूती से बांधने पर भी अन्य पक्ष का आश्रय लेने से ग्रदृष्ट हो. जाती है। यहां गुणों से तात्पर्य सन्धि, विग्रह आदि षाड्गुण्य अर्थात् राजनीति के छ: गुणों व अंगों के प्रयोग

से है। 'संधि च विग्रहं चैव यानमासनमेव च । द्वैधीभावं संश्रयं च षड्गुणांश्चिन्तयेत् सदा ॥' (मनु०, ७.१६०) । इन गुणों की दृढ़ता का तात्पर्य है- इनका सोच समझ कर ऐसा यथायथ प्रयोग करना कि उस प्रयोग में किसी परिवर्तन की गुंजाइश न रहे। तु० 'अपि दोर्थ्यां परिवद्धा बद्धापि गुणैरनेकधा निपुणैः । निर्गच्छति क्षणादिव जलधिजलोत्पत्तिपिच्छिला लक्ष्मीः ॥' (सुभा०, पृ० ६२) । आर्य शब्द की निरुक्ति इस प्रकार की गई है- 'कर्तव्यमाचरन् काममकर्तव्यमनाचरन् । तिष्ठति प्रकृताचारे स तु आर्य इति स्मृतः ॥'

अतः अनार्या का तात्पर्य हुआ जो कर्तव्य कर्मों को छोड़कर सदा अकर्तव्य कर्मों को करे। सदाचार को त्याग कर अनाचार दुराचार का आश्रय ले। यहां नाश व लोप होने के कारण के अभाव में भी उस कार्य के हो जाने से 'विभावना' अलंकार मानें या निष्पन्दीकरणरूप स्थिरता के कारण होने पर भी उसके न होने से 'विशेषोक्ति' अलंकार मानें ऐसा सन्देह होने से दोनों का 'सन्देहसङ्कर' अलंकार है। किं चः लक्ष्मी में अनार्यात्व के आरोप से 'रूपक' का भी यहां 'सक्कर' है। कुछ आचार्य यहां 'विरोधाभास' और 'रूपक' का 'सङ्कर' मानते हैं।

उद्दामदर्पभटसहस्रोल्लासिता सिलतापञ्जरविधृताप्यपक्रामति । मदजलदुर्दिनान्धकार 'गजघटित घनघटा परिपालितापि प्र- पलायते ।

भयंकर अंधकार

टीका-उद्दामेति । उद्दाम उत्कटो दर्पोऽहङ्कारो येषामेवंभूता ये भटा योद्धारस्तेषां सहस्र तेन उल्लासिता ऊर्ध्वीकृता या असिलतास्ता एव पञ्जरं तत्र विधृतापि स्थापिताप्यपक्रामत्यपसरति । मदेति। मदजलं दानवारि तदेव श्यामत्वसा- धर्माद् दुर्दिनान्धकारस्तद्युक्ता ये गजा हस्तिनस्तैर्घटिता निष्पादिता या घना निविडा घटासमूहस्तया परिपालितापि रक्षितापि प्रपलायते पलायनं करोति ।

अर्थ - उत्कट अभिमान से युक्त हजारों योद्धाओं द्वारा उठायी हुई तलवाररूपी लताओं के पिजरे में पकड़ कर रखी हुई भी निकल भागती है। मद-जल रूपी वर्षा से अन्धकार कर देने वाले हाथियों द्वारा रचित सघन समूह द्वारा सुरक्षित रखो जाने पर भी भाग जाती है।

टिप्पणी- सिंह सदृश पशु भी मज़बूत पिंजरे में बंध कर वश्य हो जाते हैं किंतु यह लक्ष्मी तो वांकुरे योद्धायों की चमचमाती तलवारों के पिंजरे में आबद्ध होने पर भी निकल भागती है अर्थात् शत्रुपक्ष का अवलंबन करती है। यहां असिलता में पञ्जर का आरोप है अत:

'रूपक' अलंकार है। जकड़ कर पकड़ी होने पर भी दूर भाग जाती है (विधृतापि अपक्रामति) - यहां अप- क्रमण के हेतु न होने पर भी इस कार्य के हो जाने से 'विभावना' मानें या लक्ष्मी के न भाग सकने का कारण उसका विधृत होना विद्यमान है किंतु इस फल की प्राप्ति नहीं होती, श्रतः 'विशेषोक्ति' मानें यह सन्देह उत्पन्न होता है अतः 'सन्देहसङ्कर' अलंकार हुआ। मदजलरूपी दुर्दिन (बादलों से भरे दिन) से दिशाओं को अंधकारयुक्त कर देने वाले गजरूपी मेघ-समूहों के चौकी-पहरे से भी यह लक्ष्मी निकल भागती है। दूसरे पक्ष में चली

जाती है- यहां श्यामत्व- साधर्म्य से मदजल में दुर्दिन का आरोप किया गया है। बादलों से भरे हुए दिन को दुर्दिन कहते हैं- 'मेघच्छन्नेऽह्नि दुर्दिनम्' (अमर०, १०३.१२)। यह आरोप गज-समूह में घनघटाओं के आरोप का निमित्त है अतः 'परम्परितरूपक' अलं- कार हुआ तथा लक्ष्मी के पलायन का हेतु न होने पर भी तद्रूप कार्य के हो जाने से 'विभावना' अलंकार हो या पलायनाभाव के हेतु परिपालन के होते हुए भी उस कार्य के न होने से 'विशेषोक्ति' अलंकार हो ऐसा सन्देह होने से 'सन्देह- सङ्कर' अलंकार हुआ । परिणामतः यहां

'परम्परितरूपक' एवं 'विभावना-विशे- षोक्ति-सन्देहसङ्कर' अलंकारों का 'सङ्कर' हुआ।

**उद्दामदर्पभटसहस्रोल्लासितासिलतापञ्जरविष्टता-** उद्दाम: दर्पो येषां ते उद्दामदर्पा: (बहु०) उद्दामदर्पाश्च ते भटा उद्दामदर्पभटा: (क० धा०) तेषां सहस्रं (६० तत्पु०) उद्दामदर्पभटसहस्रण उल्लासिता (तृ० तत्पु०) असिलता एव पञ्जरं (क० धा०) उद्दामदर्प भटसहस्रोल्लासितासिलतापञ्जरे विधृता (स० तत्पु०)। अपक्रामति - ग्रुप क्रम् लट् प्र० पु० ए० । मदजलदुर्दिनान्ध- कारगजघटितघनघटा

परिपालिता - मद एव जलं मदजलं (क० धा०) मदजलेन दुर्दिनं मदजलदुर्दिनं (तृ० तत्पु०) ० दुर्दिनस्य अन्धकाराः (ष० तत्पु०) ते एव गजाः (क० धा०) घनानां घटाः घनघटाः (ष० तत्पु०) ०गजैः घटिताः घनत्रयाः (तृ० तत्पु०) मदजलदुर्दिनान्धकारगजघटितधनघटाभिः परिपालिता (तृ० तत्पु०)। प्रपलायते - प्र + परा अय्[1] लट् प्र० पु० ए० ।

न परिचयं रक्षति । नाभिजनमीक्षते । न रूपमा- लोकयते । न कुलक्रममनुवर्तते । न शीलं पश्यति । न वैदग्ध्यं गणयति । न श्रुतमाकर्णयति । न धर्ममनुरुध्यते । न त्याग- माद्रियते । न विशेषज्ञतां विचारयति । नाचारं पालयति । न सत्यमव'बुध्यते । न लक्षणं प्रमाणीकरोति । गन्धर्व- नगर' लेखेव पश्यत एव नश्यति ।

टीका- नेति । परिचयं संस्तवं न रक्षित न पालयति । नेति । अभिजनं कुलं नेक्षते नावलोकयति । नेति । रूपं सौन्दर्य न आलोकयतेऽवलोकयति । नेति । कुलक्रमं कुलपरिपाटीं नानुवर्तते नानुगच्छति । नेति । शीलमाचारं न पश्यति नावलोकयति । नेति । वैदग्ध्यं पाण्डित्यं न गणयति न विचारयति । नेति । श्रुतं शास्त्रं नाकर्णयति न शृणोति । नेति । धर्मं वृषं नानुरुध्यते धर्मानुरोधेनैव न प्रवर्तते अधर्मवतामपि गृहे तद्दर्शनात् । नेति । त्यागं दानं प्रति नाद्रियते नादरं करोति । कृपणसद्मन्यपि दर्शनात् । नेति । विशेषज्ञतां विशेषेण

सर्वार्थवेदितां न विचारयति न विचारणां करोति । अत एव विद्वांसो दरिद्रोपद्रुता स्युरिति प्रसिद्धिः । नेति । आचारं शिष्टानुचरितं मार्गे न पालयति न रक्षति । लक्ष्मीवतोऽपि प्रायः शिष्टाचरणदर्शनात् । नेति । सत्यमवितथं नानुबुध्यते न जानाति । असत्यवतोऽपि गृहे बाहुल्येन दर्शनात् । नेति। लक्षणं मषीतिलकादि सामुद्रिकशास्त्रप्रतिपादितं न प्रमाणीकरोति लक्षणसत्त्वेऽपि तस्या अभावदर्शनात् । गन्धर्वेति । गन्धर्वनगर- लेखा हरिश्चन्द्रपुरीति यस्याः प्रसिद्धिः । असद्वस्तुभ्रमो वा । तद्वदेव पश्यत एवावलोकयत एवं पुरुषस्य नश्यति विनश्यति।

अर्थ- (यह) न परिचय (के बन्धन) को रखती है। न उत्तम कुल को देखती है। न सौन्दर्य को देखती है। न कुल परम्परा का अनुसरण करती है। न शील (चारित्र्य) को देखती है। न चतुरता (व पाण्डित्य) को गिनती है। न शास्त्र को सुनती है। न धर्म का अनुरोध करती है। न त्याग का आदर करती है। न विशेषज्ञता का विचार करती है। न (शिष्ट) श्राचार का पालन करती है। न सत्य को जानती है। न (शरीरस्थ) लक्षणों को प्रमाण बनाती है। गन्धर्व-नगर की पंक्ति की भांति (यह) देखते-देखते ही अदृश्य हो जाती है।

टिप्पणी - यह अनार्या लक्ष्मी जान पहचान नहीं मानती, अतः चिर-काल तक किसी के आश्रय में रहने पर भी क्षणभर में उसे अपरिचित की तरह त्याग कर चल देती है। यह सत्कुलों का परित्याग कर दुष्टकुलों का अवलम्बन लेती है। रूपवान् को छोड़कर कुरूपों का भी आलिंगन करती है। वंशपरम्परा से चली ग्राती हुई भी व्यक्ति को त्यागकर चल देती है। सदाचार (शीलं स्वभावे सद्वृत्ते - अमर०) का पालन नहीं करती तथा दुश्चरित्रों का सहवास करती है। दक्ष व कुशल लोगों को छोड़कर जड़ लोगों के पास भी चली जाती है। पण्डित को छोड़कर मूर्ख का

श्राश्रय ग्रहण करती है। धार्मिक को त्यागकर अधार्मिक से नाता जोड़ती है। दानी को छोड़ कर कृपण का संरक्षण प्राप्त करती है। विशिष्ट ज्ञान वालों को छोड़कर वणिग्-वर्ग के पास चली जाती है। सन्मार्ग पर चलने बालों के पास नहीं फटकती। सत्य को समझती ही नहीं अत: प्राय: धूर्तों का आश्रय लेती है। सामुद्रिकशास्त्र के अनुसार शरीर पर अंकित छत्र, शंख, चक्र, चामर आदि लक्षण सौभाग्य के लक्षण हैं किंतु यह लक्ष्मी इन लक्षणों से. युक्त लोगों के पास भी नहीं रहती तथा इनसे हीन लोगों के पास भी रह लेती है। दृष्टिभ्रम से कभी-कभी

आकाश में एक नगर की सी प्रतीति होती है। इस भ्रान्तिजन्य नगर को गन्धर्व-नगर की संज्ञा दी गई है। ज्योतिषशास्त्र में इसे अमंगल और विनाश का प्रतीक माना गया है- 'गन्धर्वनगरमुत्थितमापाण्डुरमशनिपातवातकरम् । दीप्ते नरेन्द्रमृत्युर्वामेऽरिभयं जयः सव्ये ।। (बृह०, ३) अनेकवर्णाकृति खे प्रकाशते पुरं पताकाध्वजतोरणान्वितम् । यदा तदा नागमनुष्य- वाजिनां पिबत्यसृग्भूरिं रणे वसुन्धरा ।।'

जिस प्रकार गन्धर्वनगर अनर्थ की सूचना देता है और देखते ही देखते गायब हो जाता है, वैसे ही लक्ष्मी भी विनाश की द्योतिका है तथा

देखते-देखते ही विलीन हो जाती है। 'गन्धर्वनगरलेखेव' में 'उपमा' अलंकार है। किं च, इस अनुच्छेद में लक्ष्मी में अनार्या नारी के व्यवहार का आरोप करने से 'समासोक्ति' अलंकार भी है।